Shodh International: A Multidisciplinary International Journal (In Hindi)
Vol. 2, Issue 2- 2017

स्त्री विहीन सृष्टि की कल्पना और नारी संवेदना के अनन्य रूपः मातृभूमि[1]

डॉ0 संजीव गुप्ता*, आशुतोष वर्मा**

शोध सार (Abstract)

श्याम बेनेगल के विचारों से, 'नारी हमारे समाज में (और विश्व समाज में भी) आदिकाल से शोषित होती रही है। उसका शोषण जन्म लेते ही अपने परिवार के भीतर शुरू हो जाता है और मृत्यु पर्यन्त जारी रहता है। पहले पिता के घर में वह झिड़कियाँ खाती है, फिर पति के घर आकर पति और उसके सम्बन्धियों की गुलामी करती है। मातृभूमि फिल्म में मनीष झा ने बड़े कलात्मक ढंग से महिला मानवाधिकार पर प्रश्न उठाए हैं। फिल्म के माध्यम से उन्होंने दिखाया है कि किस प्रकार बेटी के पैदा होने पर उसे डुबोकर मार दिया जाता है और अगली बार–बार लड़का होने की कामना की जाती है। जबकि बेटियों के बगैर इस संसार की कल्पना करना भी बेमानी लगता है।

सूत्र शब्दः ट्रीटमेंट सिनेमेटोग्राफी, हिप्पोक्रेसी, बाईप्रोडेक्ट, भोग्या, लोकव्यवहार, जिजीविषा।

प्रस्तावना

सम्भव है कि मनीष झा एक ऐसा नाम जान पड़े जिससे आप सब वाकिफ न हों, लेकिन इसे पढ़ने और फिल्म को देखने के बाद शायद आप ही उन्हें भुला न सकें। बेतिया में जन्मे और दिल्ली में बढ़े मनीष झा रामजस कॉलेज से स्नातक हैं। अभिनय की चाहत में स्नातक के दिनों में बाल बढ़ाए घूमने वाले मनीष जब रामजस कॉलेज के एक रंगमंचीय समूह से जुड़ने की हसरत लिए गए तो पहले उन्हें बाल कटाने को कहा गया। अमेरिका में 9/11 की घटना के बाद अमेरिका की किसी सड़क पर चहलकदमी के दौरान अमेरिकी पुलिस ने इनके बढ़े बाल और दाढ़ी के कारण छः घण्टे की लम्बी पूछताछ की थी। उसी अनुभव से इनकी दूसरी फिल्म अनवर (2007) उपजी थी। रामजस से स्नातक करने के बाद अभिनय की चाहत बम्बई खींच ले गई थी जहाँ टी0वी0 धारावाहिकों में बतौर असिस्टेंट डॉयरेक्टर काम करते हुए 30,000 की लागत से एक डाक्यूमेंट्री 'अ वेरी वेरी साइलेंट फिल्म (2001) बनाई, जिसे कॉन फिल्म महोत्सव में उस वर्ष सर्वश्रेष्ठ शार्ट फिल्म से नवाजा गया, लेकिन यहाँ उनकी डेब्यू फीचर फिल्म मातृभूमिः अ नेशन विदआउट विमन (2003) की बात हो रही है, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म महोत्सवों में उसी साल (वेनिस, पोलैण्ड, फ्लोरेन्स, ग्रीस) में पुरस्कारों की झड़ी लगा दी थी।

*सीनियर असिस्टेंट प्रोफेसर, मा0च0रा0प0स0वि, भोपाल।
**शोधछात्र, मा0च0रा0प0स0वि, भोपाल।
Correspondence E-mail Id: editor@eurekajournals.com

© Eureka Journals 2017. All Rights Reserved.

इस फिल्म की धाक का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि टाइम मैग्जीन ने इसे वर्ष 2003 की विश्व की दस श्रेष्ठ फिल्मों में शुमार किया था। बावजूद इसके भारत में इसे रिलीज होने में अट्ठारह महीने लग गए थे। देरी का सुखद पहलू एकमात्र यही था कि फिल्म एक साथ पाँच भारतीय भाषाओं (बांग्ला, तमिल, तेलगू, गुजराती और भोजपुरी) में रिलीज हुई थी।

'मातृभूमि...' के 'सब्जेक्ट' उसके 'कंस्ट्रक्ट' और 'ट्रीटमेंट' के कारण उसके अन्य सिनेमाई कौशलों मसलन सिनेमेटोग्राफी, बैकग्राउण्ड स्कोर, स्टिल्स और कैमरावर्क की ओर हमारा ध्यान फिल्म देखने के दौरान उतना नहीं जा पाता है, लेकिन यह सब मिलकर ही उस दमदार पटकथा को रचते हैं जो काल्पनिक जान पड़ती हुई भी नितान्त जमीनी है।

यह फिल्म ईरानी और इस्लामिक देशों की उन फिल्मों की तरह है, जिसमें उन फिल्मों का परिवेश भी एक महत्वपूर्ण किरदार की तरह है, जिसमें उन फिल्मों का परिवेश भी एक महत्वपूर्ण किरदार हुआ करता है, और जिनकी दूसरी भाषा में की गयी नकल अक्सर परिवेश के अभाव में आत्महीन लगा करती है। (इसका ताजातरीन उदाहरण प्रख्यात ईरानी फिल्मकार मजीद मजीदी की प्रसिद्ध फिल्म 'चिल्ड्रन आव हेवन' की प्रियदर्शन द्वारा की गयी रीमेक 'बम–बम बोले' है।)

यूँ तो इस फिल्म की कहानी भारत के किसी भी सुदूर गाँव देहात की हो सकती है, जहाँ बिजली, सड़क और चिकित्सा जैसी बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हों। इस तथ्य के बावजूद कि इस फिल्म की पूरी शूटिंग मध्यप्रदेश के सुदूर 'रेनाई' नामक देहात में हुई है, इस तथ्य के बावजूद कि मनीष झा को 'मातृभूमि' बनाने का बुनियादी ख्याल गुजरात के किसी गाँव के स्त्रीविहीन होने की खबर को पढ़कर आया था, लेकिन पूरी फिल्म की 'टोन' और 'कल्चरल टैक्सचर' को नजदीक से पढ़ने पर यह बिहार के सोनपुर–छपरा वाले भू–भाग की कहानी जान पड़ती है। एक तो पात्रों का लहजा बिहारी है (दामुल, शूल, गंगाजल और अपहरण की तरह सम्भव है कि मनीष स्वयं पश्चिमी चम्पारण के हैं, इस नाते यह प्रभाव आ गया हो), दूसरा इस क्षेत्र में विख्यात 'लौंडा नाच' की लोक परम्परा के कारण और तीसरे वहाँ की लोक स्मृति में अंकित बेटी के प्रति लोक व्यवहार के कारण।

इसी परम्परा में भोजपुरी के शेक्सपीयर माने जाने वाले भिखारी ठाकुर के नाटक 'बेटी बेचवा' के एक वाक्यांश 'अपन बेटी कितने हजार में बेंचबों।'[2] को भी ध्यान में रखें, तो इस फिल्म की कहानी भले भारत के अनेक हिस्सों के सच को बयान करती जान पड़ती हो, पर 'लोकेल' के तौर पर मनीष झा ने सम्भवतः बिहार के इसी भू–भाग को अपने जेहन में रखा है।

शोध प्रविधि

अवलोकन

भारतीय हिन्दी सिनेमा में महिला मानवाधिकार पर निर्मित कुछ चुनिन्दा फिल्मों का अवलोकन करने के बाद, 'मातृभूमि' फिल्म का अवलोकन कर महिला मानवाधिकार को समझने का प्रयास किया गया है।

अंतर्वस्तु विश्लेषण

फिल्म 'मातृभूमि' के अंतर्वस्तु विश्लेषण के लिए फिल्म से सम्बन्धित सभी द्वितीयक स्रोत, प्रकाशित लेख आदि फिल्म से सम्बन्धित तमाम फिल्मकारों के साक्षात्कार एवं विचारों को संग्रहित कर गहनता से विश्लेषित कर निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास किया गया है।

© Eureka Journals 2017. All Rights Reserved.

अंतर्वस्तु विश्लेषण

ओपनिंग सीन में मातृभूमि जिस तनाव का सृजन करती है, वह तनाव धनुष की खींची हुई प्रत्यंचा जैसी पूरी फिल्म में व्याप्त है। मनीष झा के निर्देशन की सफलता उस तनाव को बनाए रखने में है। फिल्म की बढ़ती कहानी के साथ तनाव गहराता जाता है, कई जगहों पर वह असहनीय भी हो जाता है। फिल्म की शुरूआत आइने में उभरे उस अक्स से होती है जिसमें प्रसव–वेदना से एक महिला छटपटा रही है, दूसरी महिला ने खटिया के एक सिरे पर उसकी छटपटाती टांगों के बीच होंठों में ब्लेड दबाए दाई उसका प्रसव कराने की कोशिश कर रही है। एक दूसरी महिला कठौत में पानी गर्म करके दे रही है, असहनीय दर्द से परेशान होकर गर्भवती महिला अपना पांव चलाती है और दाई का नकबाशा फूट जाता है। अब दाई प्रसव कराने के लिए ब्लेड की जगह कैंची मांगती है बाहर महिला का पति ईश्वर से मिन्नतें मांग रहा है, मनौती कुशल प्रसूति की नहीं बल्कि बेटा की जच्चगी सुनिश्चित करने के लिए। गर्भवती की धौंकनी सी चलती सांसे, दरवाजे के बाहर बैठे उसके पति की तनावग्रस्त भंगिमा और उसी अनुपात में निस्पृह, शान्त और ठंडेपन से लबरेज दाई का चेहरा और इन सबकी पृष्ठभूमि में कठौत, खटिया, मिट्टी के चूल्हे में जलती लकड़ियाँ, गगरी, लालटेन, पुआल, साइकिल, टूटहा छप्पर आदि एक अजब उदासी को परदे पर रचते हैं। इस ब्यौरे के जरिए बताना सिर्फ यह था कि फिल्म का स्क्रीन प्ले बेहद कसा हुआ है मनीष झा निर्देशक के साथ स्क्रिप्ट को सम्पादित कर उन्होंने सत्तर पृष्ठों में समेट दिया था। खैर, बच्चे के रोने की आवाज के साथ पीटी जाती थाली उस तनाव को खत्म करता ही है कि दाई बाहर आकर उसी ठण्डेपन के साथ देती है 'लड़की'।[3] अगले क्षण ही संस्कृत के एक श्लोक के साथ एक बड़े डेग में दूध को भरते दिखलाया जाता है कि 'अगले साल लड़का'।[4] ठीक वैसे ही जैसे फुटबॉल या टायर की ट्यूब को पानी में डाला जाता है यह जानने के लिए पंक्चर कहाँ हैं। शुरूआत में दूध की सतह पर कुछेक और बाद में दो–एक पानी के बुलबुलों के साथ दृश्य का समापन होता है। इस शुरूआती सीन के खत्म होने के साथ आपको लगेगा कि आप एक पल को सांस लेना भूल गए थे। लेकिन यह महज एक शुरूआत है एक दु:स्वप्न की। उस दु:स्वप्न की जिसे हमने किसी को मारकर जना है। फिल्म एक छोटी–सी कमेन्ट्री सुनाती है कि 'हमने आर्थिक स्वार्थ के कारण नवजात बालिकाओं को खत्म करना समस्या का हल समझा, लेकिन यह न सोंचा कि अपने आप में यह एक दिन समस्या बन जायेगा।' समस्या फकत इतनी कि नवजात बालिकाओं की हत्या के सिलसिले ने एक ऐसा मंजर दरपेश कर दिया है कि उस गाँव में औरतों का अस्तित्व नहीं रह गया है। 10–12 साल की बच्ची से लेकर अस्सी साल की बुढ़िया, कोई नहीं बची है। इस क्राइसिस के साथ कायदन फिल्म की शुरूआत होती है। आप यदि रचनाकार हैं या अपने को कहीं से भी थोड़ा कल्पनाशील मानते हैं तो फिल्म को यहाँ पॉज करके अपनी रचनाशीलता या कल्पनाशीलता को थोड़ा उड़ने का मौका दीजिए कि इस 'क्राइसिस' की कौन–कौन सी परिणतियाँ हो सकती हैं या सोंचिए कि इस आधारभूमि पर कहानी किन ट्विस्ट और टर्न के साथ आगे बढ़ाई जा सकती है। यकीन मानिए मनीष झा हमारी रचनाशीलता और कल्पनाशीलता दोनों पर भारी पड़ते हैं। मनीष झा ने इस दु:स्वप्न को बड़े जतन से बुना है। इसलिए पहले थोड़ी बात इस बुनावट की।

कॉस्टिंग खत्म होने ज्यों–ज्यों फिल्म आगे बढ़ती है, एक नियोजित अन्तराल पर लगातार शॉक लगना शुरू होता है। एक के

© Eureka Journals 2017. All Rights Reserved.

बाद एक होने वाले प्रहारों से दिमाग झन्ना जाता है, हर दृश्य के साथ एक नयी किस्म की सिहरन पैदा होती है कि अब आगे क्या? दूध में डुबोकर मारी गयी बच्ची के बाद दूसरा झटका तब लगता है जब ब्लू फिल्म देखने के दौरान उत्तेजना के क्षणों में राकेश (पंकज झा) वीडियो हॉल से निकलकर चोरों की तरह एक गोशाल में दाखिल होता है और किवाड़ा बन्द करने के बाद पार्श्व से गाय के रम्भाने की आवाज सुनाई देती है, तीसरा झटका तब लगता है कि जब विवाह के फेरे लेती दुल्हन का लँहगा पण्डित जगन्नाथ (पीयूष मिश्रा) मण्डप में सरेआम खींच देता है यह दिखाने के लिए कि दुल्हन लड़की नहीं, एक कमसिन लड़का है। चौथा झटका तब लगता है जब कल्कि (ट्यूलिप जोशी) का बाप उसका सौदा एक लाख और एक गाय में तय करके पाँच लाख और पाँच गायें क्यों दिए जा रहे हैं? इससे पहले कि दिमाग के घोड़े दौड़ाए जायें, विवाह मंडप में कल्कि रामचरण (सुधीर पांडे) के पाँच लड़कों (राकेश, शैलेश, ब्रजेश, लोकेश और सूरज) के साथ फेर लेते नजर आती है। इतनी देर में आप अपने भीतर एक सन्नाटे को गूंजता हुआ महसूस करने लगते हैं। तभी यातना की छठी चोट पड़ती है। सबसे बड़ा भाई कहता है कि कलैण्डर लाओ।[5] बड़ा भाई होने के नाते 'समारोह का फीता' काटने की जवाबदेही वह अपने सिर लेता है। अगले दिन यानी शुक्रवार को वह शैलेश (दीपक कुमार बन्धु) की पारी बाँधता है लेकिन शैलेश यह कहकर मना कर देता है कि शुक्रवार को मेरा व्रत रहता है। फिर पूरे लोकतांत्रिक तरीके से सबको सप्ताह में एक–एक दिन अलॉट कर दिया जाता है। फिर भी एक समस्या जस की तस रहती है कि सप्ताह सात दिनों का होता है तो बाकी के दो दिनों का क्या है? तभी सातवाँ प्राणान्तक प्रहार होता है जब बाप रामचरण चीखता है, "अरे बेवकूफों, अपने बाप के बारे में सोचा है कभी? अरे क्या नहीं किया तुम्हारे लिए! तुम्हारी माँ के मरने के बाद तुम्हारा बाप भी मैं था और माँ भी मैं, लेकिन तुम में जरा भी दया, जरा भी प्यार नहीं है। बाप साला मरता है तो मरे। अरे मैंने दिए हैं पाँच लाख रुपये और पाँच गायें, ताकि सालों तुम्हारी शादी हो सके।"[6] कल्कि अगली सुबह दर्द और दुःख से टिमकती देह के साथ जागती है, बगल में उसका ससुर सोया हैं। उसके बाद हर रात बारी–बारी स बाप–बेटों के आने का अन्तहीन सिलसिला शुरू होता है। कल्कि के चेहरे पर दुःख, दर्द, पीड़ा, यातना, अवसाद के भाव धूप–छाँव की तरह आते हैं जाते रहते हैं। इस नारकीय यन्त्रणा में सहानुभूति, संवेदनशीलता और हार्दिकता का स्पर्श कल्कि को सबसे छोटे पति सूरज (सुशान्त सिंह) से मिलता है, लेकिन बाप समेत भाइयों को अपनी साझी सम्पत्ति का सूरज की ओर बढ़ता झुकाव नागवार लगता है और भाई के द्वारा भाई की हत्या कर दी जाती है। उम्मीद की आखिरी किरण के तौर पर वह अपने पिता प्रताप (रोहिताश्व गौर) को चुपके से चिट्ठी लिखकर रग्घू (विनम्र पंचारिया) के हाथों भिजवाती है। उसका पिता आकर एक लाख रुपया और वसूल कर, यह कर कर चला जाता है कि अच्छा किया तूने अपने ससुर के बारे में बता दिया। 'सुसरा मुफ्त में ही तेरे साथ...।'[7] इस एक लाख की अतिरिक्त चपत से बाप बेटे बौखला जाते हैं। इस नरक कुण्ड से भागने की कोशिश में रग्घू उसका साथ देता है और बीच सड़क में गोली खाकर उसकी बोटी–बोटी काट डाली जाती है। रग्घू पर तलवार से वार किए जाने वाला दृश्य दिबाकर बैनर्जी की हालिया प्रदर्शित फिल्म 'लव सेक्स और धोखा' के ऑनर किलिंग वाले दृश्य की याद दिलाता है। इस दृश्य तक आते–आते यकीन मानिए हलक सूख जायेगा, लेकिन मनीष झा का मास्टर स्ट्रोक अभी भी बचा है। हिन्दी सिनेमा के इतिहास के चन्द अमानवीय क्रूरतम दृश्यों में सुमार किए जा सकने वाला दृश्य अभी नमूदार नहीं हुआ है। क्रियाओं की

© Eureka Journals 2017. All Rights Reserved.

बारम्बारता किस कदर क्रूरता की सरहदों को छू सकती है, हिन्दी सिनेमा के इतिहास के चन्द अमानवीय और क्रूरतम दृश्यों में से एक को फिल्माने का श्रेय कम से कम उन्हें दिया जा सकता है। नीच जाति के नौकर के साथ भागने के कारण कल्कि अशुद्ध करार दी जाती है। उसकी वापसी तो होती है लेकिन इस बार वह गोशाला में गायों के बीच लोहे के सीकड़ से पशुओं की तरह बंधी पड़ी है। रग्धू की मौत का बदला लेने आया रग्धू का चाचा (आदित्य श्रीवास्तव) उसे गोशाला में पाकर उसके मुँह में कपड़ा ठूँसकर बलात्कार करता है। फिर शुरू होता है मृतप्राय हो चुकी कल्कि से बलात्कार का अन्तहीन सिलसिला, जिसमें शरीक ही उसे अशुद्ध मान चुके उसके चारो पति और ससुर भी सरीक हो जाते हैं। मुर्दे की तरह गोशाला में पड़ी कल्कि के मुँह पर गाय की पेशाब की छीटें पड़ती हैं, कल्कि के हाथों में इतनी जुम्बिश भी नहीं कि अंगुलियों पर बैठी मक्खी को उड़ा सके। सिर के पास गाय का गोबर और खुद खरोंचों और खून, गर्द और गोबर से सनी और भूख–प्यास से बेहाल कल्कि लाश सी लगती है। गर्भधारण किए हुए वह गोशाला में लगभग आठ–नौ महीने तक लस्त–पस्त पड़ी रहती है। ऐसे ही एक पल में राकेश आकर पैरों से उसे ठोंकता–कोंचता है, बमुश्किल वह अपना पेटीकोट खींचकर अपनी टांगों को फैला पाती है इस अमानवीय और क्रूरतम दृश्य में मुझे सिर्फ सआदत हसन मंटो की कहानी 'खोल दो' का दृश्य याद आता है।

कई बार शादी की पहली रात को बलात्कार जैसे अनुभव से गुजरने वाली लड़की जीवनभर के लिए सहवास को एक आनन्द देने वाली क्रिया न मानकर पत्नी की ओर से जबरन निभाया गया एक दायित्व भर मानती है। यह एक लड़की के जीवन को मानसिक रूप से गहरी क्षति पहुँचाने वाले आघात हैं जिन्हें थोड़ी सी संवेदनशीलता, लड़कियों को आत्मरक्षा के उपाय की शिक्षा देकर और सख्त कानून द्वारा निरस्त किया जा सकता है।[8]

प्रथम दृष्टया यह फिल्म भ्रूण में शिशु बालिकाओं और नवजात बालिकाओं की हत्या और घटते लिंगानुपात को संबोधित जान पड़ती है, है भी। लेकिन इस मुख्य चिन्ता के समानान्तर भी फिल्म में कुछ बाते हैं जिन्हें 'बाईप्रोडक्ट' मानकर छोड़ दिया जाता है। मानव सभ्यता के विकास के इतिहास में मानव समाज के वर्गीकरण के जो दो विश्वसनीय आधार उभरकर सामने आए हैं, उनमें से एक है आर्थिक आधार और दूसरा लैंगिक आधार। मार्क्सवादी पहले की और नारीवादी दूसरे की स्त्रियाँ सबसे निचले पायदान पर हैं। 'मातृभूमि' सबाल्टर्न दृष्टि से भी एक महत्वपूर्ण फिल्म है सबाल्टर्न समूहों में दलितों के संग स्त्रियों की इसकी चीर–फाड़ करती है। फिल्म में सामाजिक विभाजन के आर्थिक, लैंगिक और जातिगत आधार अर्थपूर्ण ढंग से उपस्थित हैं। सवर्णों के साथ दलितों का समूह भी है। फिल्म में हर जमात से इक्के–दुक्के पात्र लिए गए हैं जो व्यक्ति से ज्यादा अपने समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुल मिलाकर वे पात्र कम प्रतीक ज्यादा हैं।

पहले दलित पात्रों के समुदाय को लेते हैं। रग्धु: नौकर (विनम्र पंचारिया) की फिल्म में एंट्री एक श्रमजीवी के रूप में होती है वह अपने गाँव के दबंग और रसूखदार सवर्ण रामचरण (सुधीर पांडे) के यहाँ नौकर का काम करता है नीची जाति से ताल्लुक रखने के कारण मालिक और उसके लड़के गाहे–बगाहे उलाहना के साथ उसे प्रताड़ित भी करते हैं। 10–12 साल का लड़का प्रतिकार में क्या कर सकता है? हाल ही में एक दिलचस्प किताब के बारे में पढ़ा, 'वेपन ऑव दि वीक' जिसमें कमजोर और असंगठित क्षेत्र के लोगों को प्रतिरोध के दिलचस्प तरीकों का उल्लेख था जैसे मजदूर

© Eureka Journals 2017. All Rights Reserved.

पर आप बहुत निगरानी करेंगे तो वह क्या करेगा, वह काम के दौरान फांकी मारेगा, कम से कम अपने जानते ऐसे तरीकों से आपका नुकसान करके अपने अहं को तुष्ट करेगा रग्घू ने भी बदले का एक ऐसा ही तरीका ईजाद कर रखा है। जैसे पंडित जगन्नाथ (पीयूष मिश्रा) को शर्बत देने से पहले वह उसमें थोड़ा पेशाब करना कभी नहीं भूलता, रामचरण के यहाँ खाना जानबूझकर वह थोड़ा खराब बनाता है ताकि ज्यादा से ज्यादा बच जाए और वह अपने चाचा और विक्षिप्त पिता का पेट पाल सके। इस तरह जब वह जूठन और बचे हुए खाने के साथ अपनी दलित बस्ती में लौटता है तो उसकी जातिगत अस्मिता सामने आती है। कल्कि उसके श्रम और यातना का साझीदार बनती है। एक दृश्य है जहाँ रामचरण और उसके पाँचों बेटे एक पंगत में बैठकर खा रहे हैं और रग्घू की जगह पर कल्कि बैठी है। कल्कि उस घर में एक दास को 'रिप्लेस' करती है। इस तरह कल्कि को बचाने के अपने बालसुलभ प्रयास में ही रग्घू मारा जाता है, जो स्वयं अपनी यातना से मुक्ति का मार्ग तलाश न कर सका हो, वह कैसे दूसरे को मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। इस लिहाज से देखें तो रग्घू फिल्म के तीन कोणों को जोड़ने वाला महत्वपूर्ण संयोजक की भूमिका में है। रग्घू का पागल बाप कचरा (मुकेश भट्ट) के पागलपन का हम अनुमान ही कर सकते हैं। उसकी वर्गगत और जातिगत अवस्था को देखकर यह कयास लगाया जा सकता है कि ताउम्र श्रम करने के बाद भी वह अपने बच्चे को गुलामी से बचा नहीं सका। लेकिन इन बाप–बेटे की तुलना में दलित तबके का सच्चा प्रतिनिधित्व रग्घू का चाचा (आदित्य श्रीवास्तव) करता है। रग्घू का चाचा अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रहे अवसरवादी दलित तबके का नुमाइंदा जान पड़ता है। वह अपने भतीजे रग्घू की हत्या का इस्तेमाल जिस ढंग से जातीय एकजुटता के लिए करता है, उससे पिछले तीन मौकों पर उसकी नजरअंदाज की जा चुकी मानीखेज मौजूदगी की ओर फिर से हमारा ध्यान जाता है। पहली बार वह लौंडा नाच के दौरान फ्रेम में आता है, दूसरी बार ब्लू फिल्म देखने के दौरान वह 'जनता क्लास' (गाँव के सामाजिक व्यवहार का अपना आचारशास्त्र है, जहाँ वीडियो हॉल में भी एक किस्म के जातिगत आधार पर बैठने की व्यवस्था है) से उठकर सवर्णों के साथ बैठने की कोशिश करता नजर आता है, तीसरी बार वह रग्घू को यह कहते नजर आता है कि 'ऊँचे घर में काम नहीं करना चाहिए, दिमाग खराब हो जाता है।'[9] और चौथे मौके पर खून का नारा बुलन्द करते हुए अपने समाज को संगठित कर रहा होता है, जहाँ उसके नेतृत्व की महात्वाकांक्षा उभरकर आती है। रग्घू के चाचा को अवसरवादी इसलिए भी कह रहा हूँ कि एक ओर जहाँ वह अपने भतीजे की हत्या पर अपने लोगों को एकजुट करता है, वहीं कल्कि के गर्भ में पलने वाले बच्चे के पिता के तौर पर अपने पागल भाई को प्रोजेक्ट करता है। उसके इस अवसरवादी चरित्र को आखिरी दृश्यों में जातिगत दंगों के दौरान मनीष झा स्पष्ट करते हैं, जब वह अपने गाँव के लोगों के साथ सवर्णों पर आक्रमण करता है तो गाँव के हूजूम के साथ दौड़ते हुए वह सबसे आगे रहता है, लेकिन लोगों पर जब दो–एक गोलियाँ चलती हैं तो वह यकायक थोड़ा पीछे की ओर भागता ह ताकि उसकी जान सलामत रहे। इतना ही नहीं बेबस कल्कि के प्रति दलित होने के नाते वह कोई सहानुभूति प्रदर्शित किए बिना लगातार बलात्कार करता है। यह इस बात की ओर भी संकेत करता है कि पुरुष के मुकाबिल एक स्त्री केवल एक सेक्स ऑब्जेक्ट मात्र होती है, उसके आर्थिक और जातिगत आधार या पहचान मायने नहीं रखते हैं। दलित और सवर्ण दोनों समान रूप से पितृसत्तात्मक वृत्ति के होते हैं। स्त्री दोनों के लिए भोग्या मात्र है। (कश्मीर और

© Eureka Journals 2017. All Rights Reserved.

उत्तर–पूर्व, विशेषकरण मणिपुर की स्त्रियाँ भारतीय सैनिकों को किस रूप में देखती होंगी?) इसलिए सबाल्टर्न समूह का हिस्सा होते हुए भी स्त्रियाँ दलितों की तुलना में ज्यादा शोषित हैं। मनीष झा वैचारिक और राजनीतिक तौर पर बहुत महीन वार कर गए हैं। कम से कम स्त्री और दलित विमर्शों पर हिन्दी में बहसते बहुत से बुद्धिजीवियों की तुलना में वे ज्यादा सटीक हैं। इस कोण में देखें तो मातृभूमि एक पॉलिटिकल फिल्म भी लगती है।[10]

यदि किसी घाव का समय रहते इलाज कर दिया जाए तो अंग काटने की नौबत नहीं आयेगी किन्तु हम यह मानने को तैयार नहीं होते कि जिस तरह एक पुरुष की कुछ कामुक कल्पना हो सकती है उसी तरह महिला की भी कुछ कल्पना हो सकती है। इस दोहरी मानसिकता और हिप्पोक्रेसी ने भारतीय फिल्मों में गुणवत्ता के विकास को प्रभावित किया है। शुक्र है अब वर्जनाएँ टूट रही हैं सूचना का मुक्त प्रसार हो रहा है और समाज के हर विषय को उठाया जा रहा है किन्तु इस मामले में भी भारतीय फिल्मकारों का दृष्टिकोण पश्चिम से ज्यादा प्रेरित लगता है जबकि ऐसा नहीं होना चाहिए। इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।[11]

अगर मनीष झा के सन्दर्भ में यह दूर की लायी गयी कौड़ी जान पड़ रही हो तो याद दिला दूँ कि 'अनवर' उन्होंने ही बनाई थी और उनके सरनेम से अगर सवर्ण मानसिकता की बू आए तो यह भी बताता चलूँ कि फिल्म में वह ब्राह्मणों के साथ ज्यादा कठोरता से पेश आए हैं। पंडित जगन्नाथ (पीयूष मिश्रा) को वे न सिर्फ दलित का पेशाब पीते दिखलाते हैं बल्कि एक ऐसे अनैतिक जीव के तौर पर प्रस्तावित करते हैं, जिसका शुचित, शुद्धता, नैतिकता और पवित्रता से कोई नाता नहीं है। पंडित जगन्नाथ समलैंगिक है। उसके पोथी–पतरे झूठे हैं। कुल मिलाकर कहें तो टके की खातिर अपनी जाति, धर्म सबको बेचने वाली जमात के तौर पर मनीष ब्राह्मण वर्ग को चित्रित करते हैं। किरदारों के लिए जो स्पेस मनीष झा ने क्रिएट किए हैं, उसके मूल में जो निःसंगता है, वह व्यक्तीय अलगाव की याद दिलाता है। यही कारण है कि कल्कि को केन्द्रीयता के बावजूद पीयूष मिश्रा, पंकज झा, आदित्य श्रीवास्तव ने यादगार अभिनय किया है। राकेश की भूमिका में पंकज झा ने जो सेक्सुअली फ्रस्टेटेड परफारमेंस के बावजूद अभिनय का सेहरा पंकज झा के सिर पर। पंकज झा को अगर कोई मात दे सका है तो आदित्य श्रीवास्तव वह भी बस एक दृश्य में। यह वह दृश्य है जब कल्कि की गर्भवती होने की खबर सुनकर उसे सम्भावित पिता के तौर पर अपने भाई को प्रस्तावित करता हुआ वह दमदार वाक्य कहता है, "अरे इतने साल के शोषण के बाद भी मर्दानगी नहीं खोई रे...।"[12]

श्याम बेनेगल के विचारों से, 'नारी हमारे समाज में (और विश्व समाज में भी) आदिकाल से शोषित होती रही है। उसका शोषण जन्म लेते ही अपने परिवार के भीतर शुरू हो जाता है और मृत्यु पर्यन्त जारी रहता है। पहले पिता के घर में वह झिड़कियाँ खाती है, फिर पति के घर आकर पति और उसके सम्बन्धियों की गुलामी करती है।

"इनकी स्थिति में परिवर्तन आया है पर उतना नहीं जितना आना चाहिए। सामाजिक नियंत्रण और दबाव इतने ज्यादा हैं कि आत्मनिर्भर नारी भी पूर्णतः आत्मनिर्भर नहीं है। 'भूमिका' में भी आपने देखा होगा कि नायिका कमाती है, परिवार का पूरा बोझ उठाती है, लेकिन पति उस पर शासन ही करना चाहता है।"[13]

फिल्म मातृभूमि का एक और महत्वपूर्ण पहलू है: हिन्दू समाज की धार्मिक, पौराणिक

© Eureka Journals 2017. All Rights Reserved.

मिथकों के बेहद शुरूआती दृश्य में जो व्यक्ति अपनी नवजात बालिका को दूध में डुबोकर मारता है, उसका नाम गोपाल है। मीराबाई ने भी तारणहार के तौर पर कृष्ण के गिरधर के गोपाल वाले रूप को याद किया है (मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोय)। गोपाल का एक अर्थ इन्द्रियों का रक्षक होता है। लेकिन इन्द्रिय की रक्षा तो दूर, गोपाल स्वयं कंस की भाँति नवजात शिशु की हत्या में संलग्न है। रामचरण और पाँचों बेटे और पण्डित जगन्नाथ के नामों के साथ उनके आचरण को रखें तो हिन्दू समाज में नाम के उल्टे आचरण की प्रवृत्ति को मनीष झा कटघरे में खड़ा करते नजर आते हैं। पुराणों के अनुसार कलयुग में होने वाले विष्णु के दसवें अवतार का नाम कल्कि होगा। कल्कि की दुर्गति जहाँ एक ओर किसी अवतार की कल्पना का निषेध करती है, वहीं दूसरी ओर अपना ईश्वर आप बनने की संघर्षशीलता को स्थापित भी करती है। कल्कि और गाय कई मौकों पर एक–दूसरे के पयार्य जान पड़ते हैं। भारतीय लड़कियों के विवाह के सन्दर्भ में एक मुहावरा चलता है कि 'लड़कियाँ तो गाय होती हैं, चाहे ब्राह्मणों को दान दे दो, चाहे कसाई को बेच दो।' जब कल्कि को भी गोशाला में गायों की तरह जंजीरों से बाँध दिया जाता है, तब वह भी उन गायों में से एक में तब्दील हो जाती है। भारतीय सभ्यता–संस्कृति में गाय पूज्य और पवित्र मानी गयी है और स्त्रियाँ भी (यत्र नार्यस्तु पूज्यते स्मन्ते तत्र देवता), लेकिन दोनों का हश्र एक सा है। एक दृश्य है जिसमें कल्कि का पिता प्रताप कल्कि की चिट्ठी पढ़कर वापस आया है और एक लाख रुपया फिर से गिन रहा है, वहाँ रामचरण कहता है कि आपकी एक गाय हम भिजवा देंगे, तब प्रताप कहता है 'न जी, अब गाय की कोई जरूरत नहीं है। हम तो सब कुछ बेचकर शहर शिफ्ट हो गए हैं।'[13] यह गाँवों के शहरों में शिफ्ट होने भर की ओर इंगित नहीं करता है, बल्कि अर्थव्यवस्था में आए बदलाव के साथ मनुष्य की प्रकृति और प्रवृत्ति में आए बदलाव को भी लक्ष्य करता है फिल्म के अन्त में स्क्रीन पर उभरने वाली इस सूचना पर गौर फरमाएँ कि 'स्वास्थ्य व परिवार कल्याण मुख्यालय के एवं न्छथ्च्। के अनुसार पुत्र लोभ के कारण पिछले सौ वर्षों में 350 लाख बालिकाएँ भारत की जनसंख्या से लापता हैं।' जिनको यह संख्या अतिरंजित लगती है, उन्हें पिछले दस साल में भारतीय किसानों के द्वारा की गयी आत्महत्या के आँकड़े भी अतिरंजित लग सकते हैं, नक्सल के नाम पर मारे गए आदिवासियों की संख्या भी सन्दिग्ध लग सकती है और यह फिल्म तो अतिरंजित लगेगी ही। भारतीय इतिहास के पिछले सौ साल की पूँजीवादी विकास के साथ सामंती अवशेषों के बचे रहने और पुनजीर्वित होने के दौर के रूप में भी देखा जा सकता है। यह पूँजीवादी विकास के नारों के स्त्रीविरोधी चरित्र को भी एक स्तर पर उजागर करने वाली फिल्म है। फिल्म के शुरूआती दृश्य से उपजे तनाव की तान फिल्म के आखिरी दृश्य में जाकर टूटती है जब फिल्म के अन्तमें कल्कि के चेहरे पर प्रसव की जद्दोजहद से उपजे पसीने की बूँदों तले नवजात बच्ची का रक्ताभ रूदन सुनाई देता है और उसकी नन्हीं रिक्तिम मुट्ठी को कल्कि जब अपनी हथेलियों में समेटती हुई दिपदिपाती–झिपझिपाती पलकों और स्मित हास के साथ अपने पहलू में लेती है, वह दृश्य अदम्य संघर्षशीलता और उद्दाम जिजीविषा का एक बेनजीर दृश्य जान पड़ता है। इस फिल्म की रिव्यू लिखते हुए सोमा वाधवा ने एक बड़े पते की बात 4 मार्च, 2004 की अंग्रेजी आउटलुक में लिखे अपने लेख में नोटिस की थी जो शायद एक पुरुष होने के नाते मैं नहीं महसूस कर सकता था। इस पूरी फिल्म को देखते समय जहन में अमानवीय शब्द लगातार बनते रहे लेकिन कभी भी उसकी जगह पाश्विक लिखने का ख्याल नहीं आया। दूसरा प्रसंग इस फिल्म की थीम से जुड़ा है, लगभग अब तक सारे

© Eureka Journals 2017. All Rights Reserved.

रिव्यूज में इसे नवजात और स्त्री शिशुओं की भ्रूण हत्या और लिंगानुपात से जोड़कर ही देखा गया है, जबकि कमला भसीन इसे बुनियादी मानवाधिकार से जुड़ा मानती हैं। इन दो नुक्तों की ओर मेरा ध्यान नहीं गया था, अपनी तमाम संवेदनशीलता के बावजूद शायद पुरुष होने मात्र से इन दो बातों की ओर मेरा ध्यान नहीं जा सकता था। बहरहाल, सोमा वाधवा की वह बात यह थी कि "Without women men are not human. This metyamorphosis of the male into animal if the world were to become womanless is the theme of Matrabhoomi: a nation without woman."[15] इसी से मिलता–जुलता कुछ Will Durant ने अपनी किताब "The Greatest Mind and Ideas of All Time" में लिखा है कि "It was woman who gave man agriculture and the home: she domesticated man as she domesticated the sheep and pig. Man is woman's last domestic animal, and perhaps he is the last creature that will be civilized by woman"[16] विल डॅयूरा के उपरोक्त विचारों के बाद क्या कल्कि अवतार के रूप में स्त्री की पकिल्पना बेमानी लगती है।

मातृभूमि फिल्म में मनीष झा ने बड़े कलात्मक ढंग से महिला मानवाधिकार पर प्रश्न उठाए हैं। फिल्म के माध्यम से उन्होंने दिखाया है कि किस प्रकार बेटी के पैदा होने पर उसे डुबोकर मार दिया जाता है और अगली बार–बार लड़का होने की कामना की जाती है। जबकि बेटियों के बगैर इस संसार की कल्पना करना भी बेमानी लगता है। फिल्म के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार एक स्त्री को शादी के नाम पर पाँच–पाँच पुरुषों के हाथों बेचा जाता है तथा वह बारी–बारी से उसका इस्तेमाल करते हैं और तो और उसका ससुर भी उसके साथ रात बिताते हुए दिखाया गया है। बाद में उसके साथ सामूहिक बलात्कार किया जाता है। गर्भावस्था में गोशाला में बांधकर रखा जाता है। जहाँ उसके अधिकारों के साथ पल–पल हनन किया जाता है। यहाँ एक महिला की वेदना को समझना कितना कठिन प्रतीत होता है। महिला मानवाधिकारों को सजगता से उठाती यह फिल्म समाज पर गहरे आघात करती है।

निष्कर्ष

- यदि किसी घाव का समय रहते इलाज कर दिया जाए तो अंग काटने की नौबत नहीं आयेगी किन्तु हम यह मानने को तैयार नहीं होते कि जिस तरह एक पुरुष की कुछ कामुक कल्पना हो सकती है उसी तरह महिला की भी कुछ कल्पना हो सकती है। इस दोहरी मानसिकता और हिप्पोक्रेसी ने भारतीय फिल्मों में गुणवत्ता के विकास को प्रभावित किया है। शुक्र है अब वर्जनाएँ टूट रही हैं सूचना का मुक्त प्रसार हो रहा है और समाज के हर विषय को उठाया जा रहा है किन्तु इस मामले में भी भारतीय फिल्मकारों का दृष्टिकोण पश्चिम से ज्यादा प्रेरित लगता है जबकि ऐसा नहीं होना चाहिए। इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।[11]
- इस फिल्म के माध्यम से हिन्दू समाज में नाम के उल्टे आचरण की प्रवृत्ति को मनीष झा कटघरे में खड़ा करते नजर आते हैं।
- फिल्म में भारतीय लड़कियों के विवाह के सन्दर्भ में एक मुहावरा चलता है कि 'लड़कियाँ तो गाय होती हैं, चाहे ब्राह्मणों को दान दे दो, चाहे कसाई को बेच दो।'
- भारतीय सभ्यता–संस्कृति में गाय पूज्य और पवित्र मानी गयी है और स्त्रियाँ भी (यत्र नार्यस्तु पूज्यते स्मन्ते तत्र देवता), लेकिन दोनों का हश्र एक सा है।
- महिला मानवाधिकारों को सजगता से उठाती यह फिल्म समाज पर गहरे आघात करती है।

© Eureka Journals 2017. All Rights Reserved.

संदर्भ ग्रंथ

[1]. निर्देशकः मनीष झा, कलाकारः ट्यूलिप जोशी, सुधीर पाण्डे, सुशांत सिंह, आदित्य श्रीवास्तव।
[2]. उपन्यास 'बेटी बेचवा': भिखारी ठाकुर।
[3]. मूल फिल्म मातृभूमि से।
[4]. मूल फिल्म मातृभूमि से।
[5]. मूल फिल्म मातृभूमि से।
[6]. मूल फिल्म मातृभूमि से।
[7]. मूल फिल्म मातृभूमि से।
[8]. सुधा अरोड़ाः आम औरत जिन्दा सवाल, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (2009), पृ0 103.
[9]. मूल फिल्म मातृभूमि से।
[10]. प्रहलाद अग्रवालः हिन्दी सिनेमाः आदि से अनन्त, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद (2014), पृ0 56–57.
[11]. मुकुल श्रीवास्तवः मानवाधिकार और मीडिया, अटलांटिक प्रकाशन (2009), पृ0 45
[12]. मूल फिल्म मातृभूमि से।
[13]. मूल फिल्म मातृभूमि से।
[14]. डॉ0 वीरेन्द्र सक्सेनाः हिन्दी सिनेमाः नीति और अनीति, पंकज बुक्त, दिल्ली (2005), पृ0 62.
[15]. सोमा वाधवाः आउटलुक पत्रिका का लेख, 4 मार्च, 2004.
[16]. विल डॅयूरा की किताब "The Greatest Mind and Ideas of All Time" का एक अंश।

© Eureka Journals 2017. All Rights Reserved.